विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

महाकाव्यों में कलाओं की उपस्थिति
प्रदीप जैन

पृष्ठ क्र. 3-4

कृषि और पारंपरिक शिल्प का विकास
राजेन्द्र कुमार शर्मा

पृष्ठ क्र. 5-6

भास के नाटक और उज्जयिनी
चन्द्रशेखर भार्गव

पृष्ठ क्र. 7

संस्कृति, शिक्षा और प्राचीन तक्षशिला
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 8

सोमदेव की सर्वकालिक कृति कथासरित्सागर
मिथिलेश यादव

महाकाव्यों में कलाओं की उपस्थिति

प्रदीप जैन

वैदिक भारत के कलानुराग का दिग्दर्शन रामायण और महाभारत में हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ वस्तुतः वैदिक परम्परा और तत्कालीन जन–जीवन के दर्पण हैं। इससे पूर्व काव्य को कला का ही एक अंग माना जाता था। इन दोनों ग्रन्थों के द्वारा काव्य की स्वतन्त्र विधा की स्थापना हुई। इन दोनों महाग्रन्थों के मूल कथासूत्रों का निर्माण यद्यपि वैदिक और लौकिक युग के सन्धिकाल में हो चुका था। किन्तु 600–500 ई.पू. तक उनमें निरन्तर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होते रहे। अपने–आप में एक प्रकार से वे विश्वकोश हैं, जिनमें इतिहास, पुराण, काव्य और महाकाव्य आदि अनेक विषयों का एक साथ समावेश हुआ है।

समस्त भारतीय साहित्य पर और विशेष रूप से संस्कृत–साहित्य पर उनके प्रभाव की छाप अंकित है। संस्कृत के परवर्ती कवि–मनीषियों ने उनके कथासूत्रों से प्रेरणा तथा उपादान ग्रहणकर नयी–नयी कृतियों द्वारा साहित्य के भण्डार को भरा। इस रूप में उनको संस्कृत–साहित्य का उपजीव्य कहा गया है और इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने उनको 'एपिक विदिन एपिक' कहा है। अपनी महानताओं के कारण आज वे विश्व की सर्वोच्च कृतियों में परिगणित होते हैं। यहाँ उनका विश्लेषण साहित्यिक दृष्टि से नहीं, अपितु उनके द्वारा प्रासंगिक रूप में तत्कालीन भारत की कला और संस्कृति की जो विरासत सुरक्षित रही इस दृष्टि से अभिप्रेत है। इस दृष्टि से यदि इन दोनों ग्रन्थों का अध्ययन–अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात होता है कि तत्कालीन (600–500 ई.पू.) भारत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, कलानुरागिता की दृष्टि से भी उन्नति की पराकाष्ठा पर था। कला के प्रमुख तीनों अंगों चित्र, वास्तु और स्थापत्य का अनेक उपांगों में पूर्ण विकास हो चुका था। रामायणकालीन समाज कला के प्रति अत्यन्त अनुरक्त प्रतीत होता है। रामायण के बालकाण्ड के छठे सर्ग में महामुनि वाल्मीकि ने अयोध्यावासियों के वर्णन–सन्दर्भ में उनकी कलानुरागिता तथा सौन्दर्यप्रियता का भी अच्छा दिग्दर्शन किया है। यहाँ के निवासियों के सौन्दर्य प्रसाधनों, केश सज्जा, अंगराग, चित्र–विचित्र वस्तुओं का व्यवहार, स्त्रियों के कपोलों पर पत्रावली–रचना, राजप्रासादों, गृहों, रथों की सज्जा, पशुओं को अलंकृत करने की प्रवृत्ति, नगरों तथा उद्यानों की सुन्दरता के प्रति अभिरुचि और उत्सवों, त्योहारों का आयोजन आदि का हृदयग्राही वर्णन करते हुए महामुनि ने रामायणकालीन समाज की सुरुचि का सुन्दर चित्रण किया है।

परम्परानुगत मान्यताओं के अनुसार रामायण में कलाओं को शिल्प के अन्तर्गत परिगणित किया गया है और इस सन्दर्भ में गीत, नृत्य वाद्य तथा चित्रकर्म आदि ललित कलाओं का उल्लेख किया गया है। वहीं शिल्पकार की उदात्त प्रशस्ति गायी गयी है। तत्कालीन समाज के कलानुराग के प्रभाव से राम भी प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। इसका सहज अनुमान उस प्रसंग को देखकर होता है, जिसमें महामुनि ने राम को संगीत, वाद्य तथा चित्रकारी आदि मनोरंजक शिल्पों के ज्ञाता के रूप में वर्णित किया है। भारत में मूर्ति–निर्माण की परम्परा के समुन्नत मूर्त प्रमाण सिन्धु सभ्यता के अवशेषों द्वारा प्रकाश में आ चुके हैं। परवर्ती युगों पर उसका प्रभाव व्यापक रूप से परिलक्षित होता रहा। रामायणकालीन भारत में शिल्प–विधान का सुन्दर उदाहरण सीता की वह सुवर्ण प्रतिमा थी, जिसको राम ने अश्वमेधयज्ञ के अवसर पर निपुण शिल्पियों द्वारा निर्मित कराया था। सीता की इस सजीव प्रतिमा के निर्माता का नाम मय था। रामायणकालीन भारत में स्थापत्य कला भी अपनी परमोच्च स्थिति पर थी। दानवों के स्थपति और भारतीय शिल्प कला के जनक विश्वकर्मा उसी युग में हुए थे। इसलिए अन्य कलाओं के अतिरिक्त भवन–निर्माण का कार्य भी उस युग में चरमोत्कर्ष पर था। उस युग के भवनों की विधा के परिचायक

प्रासाद, विमान, हाम्यं और सौध आदि के विभिन्न भेदों का पता भी रामायण से चलता है। उस युग में सप्तभौम, अष्टभौम और सहस्रस्तम्भ आदि विशिष्ट एवं विशाल राजभवनों के विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार रथों की साज–सज्जा के लिए उपयोग में लायी जाने वाली सुवर्ण–प्रतिमाओं का निर्माण तत्कालीन शिल्पियों के अद्‌भुत कौशल का द्योतन करती है। रत्नों की आभा से दीप्त हेममणियों से विभूषित वैदूर्यमणि, चाँदी तथा मूँगे से पक्षियों से अलंकृत, भाँति–भाँति के रत्नसर्पो से सुसज्जित और मणिमय, सीधे–चिकने हीरों मोती, मूँगों और चाँदी–सोने आदि के अलंकरणों से परिमण्डित लंकापति रावण का पुष्पक विमान वस्तुतः उस युग के शिल्पकारों के अद्‌भुत कौशल एवं गहनतम साधना का अपूर्व उदाहरण था। रावण का यह पुष्पक विमान न केवल प्राचीन भारत की वैज्ञानिक प्रगति का सूचक था, अपितु जैसा कि उसका वर्णन हुआ है, वह भारतीय कला का अनन्य नमूना था।

देववाणी संस्कृत को वैदिक परम्पराओं से लोक–जीवन में अवतरित करने का सर्व प्रथम श्रेय महामुनि वाल्मीकि की छन्दोमयी वाणी को ही दिया गया है। जब वे रामायण की रचना कर रहे थे, तभी उसको लोकगोचर करने का कार्य उन्होंने लव–कुश को सौंपा। ये दोनों भाई स्वरज्ञान से सम्पन्न (स्वर सम्पनी) थे। उन्हें शास्त्रीय संगीत की विधिवत शिक्षा महामुनि से ही प्राप्त हुई थी। उन्होंने वीणावादन के साथ महिमामयी राम–कथा को लोक प्रचारित किया। रामायण में संगीत के अतिरिक्त नृत्य–नृत्त लास्य और रंग या रंगमंच आदि विभिन्न ललित कलाओं के प्रचलन का भी प्रमाण मिलता है। रामायण में भित्तियों, कक्षों, रथों और राजभवनों पर चित्रांकित करने के सम्बन्ध में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। रावण के पुष्पक विमान का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। रामायण के उत्तरकाण्ड में बताया गया है कि उरा विमान में दृष्टि और मन को मोहित कर देने वाले और आश्चर्य में डाल देनेवाले नाना भाँति के दृष्य अंकित थे। उसके कक्षों (अगल–बगल) में उसकी शोभा का उत्कर्ष बढ़ानेवाले अनेक बेलबूटेदार चित्र अंकित थे। इन प्रमाणों से निश्चित ही भारतीय चित्रकला के समृद्ध इतिहास का पता चलता है। रामायण के सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्ड इस दृष्टि से विशेषत अध्ययनीय हैं। लंकाधिपति रावण अद्‌भुत वीर और विद्वान् होने के साथ–साथ कला का भी अत्यन्त अनुरागी था। उसके कलाप्रेम के अनेक उदाहरण उक्त दोनों काण्डों के विभिन्न सन्दर्भों में देखने को मिलते हैं। लंकापुरी में सीता की खोज करते समय हनुमान को यहाँ एक चित्रशाला और चित्रों से सुसज्जित अनेक क्रीड़ागृह देखने को मिले थे।

रामायण में उल्लिखित चित्रशालागृहाणी से प्रतीत होता है कि उस समय चित्रों का इतना शौक था कि स्वतन्त्र चित्रशालाओं की स्थापना होने लगी थी। रावण की चित्रशाला तत्कालीन भारत की प्रमुख चित्रशालाओं में से एक थी। ये चित्रशालाएँ व्यक्तिगत सामाजिक और राजकीय रूपों में अनेक प्रकार से विद्यमान थीं। चित्र–सज्जित रानी कैकेई के राजप्रासाद के वर्णन से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चित्रकला के प्रति उसकी बड़ी अभिरुचि थी। बाली और रावण की मृत्यु के उपरान्त उनके शव ले लाने के लिए जो पालकियों बनायी गयी थीं उनमें की गयी चित्र–सज्जा का अद्‌भुत वर्णन रामायण में देखने को मिलता है। चित्रकला के प्रति समाज का इतना अधिक अनुराग था कि हाथियों के मस्तिष्कों और रमणियों के कपोलों पर आकर्षक चित्र–रचना की जाती थी। अन्य भी अनेक उदाहरण हैं। सीता को भ्रम में डालने के लिए रावण ने अपने विघज्जित्र नामक चित्रकार को जो उसका युद्धसचिव भी था, राम के शिर और राम के धनुष की छदम आकृति बनाने का आदेश दिया था। चित्रलिखित कृत्रिम शिर और धनुष–बाण सीता के सामने यह प्रामाणित तथा विश्वास दिलाने के लिए रखा गया था कि युद्ध में राम की मृत्यु हो गयी। यद्यपि सीता इस छद्‌म से बच गयी, फिर भी राम के निधन की इस आकस्मिक घटना पर उन्होंने बड़ा दिलाच किया। यह विघरिजन के कौशल का ही परिणाम था। भारतीय संस्कृति और कला कम चर्चा हुई है। उसका कारण राष्ट्रव्यापी अशान्ति और अस्थिरता थी। महाभारतकालीन भारत की स्थिति ऐसी नहीं थी, जिसमें कला, मनोविनोद और उल्लास–उत्सव जैसी वृत्तियों के संवर्द्धन को प्रोत्साहन मिलता। चित्रकला के सम्बन्ध में तो प्रायः सारा महाभारत मौन है।

उस युग में शिल्प तथा कला के क्षेत्र में जो भी कार्य हुआ उसका श्रेय ग्रीकों को दिया जा सकता है। ग्रीक जब पहले–पहल भारत में आये तो उन्होंने भवन–निर्माण की ओर अपनी सक्रियता दर्शित की। तब उच्च भवनों क निर्माण के लिए लकड़ी तथा मिट्टी से काम लिया जाता था। दुर्योधन ने पाण्डवों के लिए जिस लाक्षागृह को बनाने का आदेश दिया था वह मिट्टी तथा लकड़ी का ही था। इस उदाहरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत काल में बड़े लोगों के रहने के लिए लकड़ी–मिट्टी के घर होते थे। स्थापत्य की दृष्टि से पाण्डवों का सभा–भवन उल्लेखनीय है। उसका निर्माण मयासुर ने किया था। इस सभा भवन के अद्‌भुत वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि सौति की वह कल्पना मात्र थी। किन्तु उसमे वास्तविकता थी। सम्प्रति इसके प्रमाण भी उपलब्ध हो गये हैं। मय असुर जाति का महान् शिल्पी था। इसीलिए महाभारतकाल के स्थापत्य के सम्बन्ध में सहज ही यह धारणा बनती है कि इस प्रकार की अनन्य इमारतों को बनाने में असुर अथवा फारसी या पश्चिमवासी यवन ही सक्षम थे। कुछ दिन पूर्व पाटलिपुत्र (पटना) की खुदाई से प्राचीन भवनों को खोज निकालने का जो प्रयत्न किया गया था उसके परिणामस्वरूप वहीं से चन्द्रगुप्त की अनेक स्तम्भों वाली सभा के अवशेषों का पता चला है। विद्वानों का अनुमान है कि दरायस नामक एक फारसीवासी बादशाह ने पर्सिपुलिस में जो स्तम्भगृह बनवाया था उसी नमूने और लम्बाई–चौड़ाई का सभागृह चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में अपने लिए बनवाया था। फारस के बादशाह द्वारा निर्मित उक्त सभागृह आज भी अपनी अच्छी स्थिति में है।

कृषि और पारंपरिक शिल्प का विकास

राजेन्द्र कुमार शर्मा

पतंजलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में कृषि भारत का मूल व्यवसाय था। उनके महाभाष्य में जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें अधिकतर कृषि व जनजीवन सम्बद्ध अन्य व्यवसायों के परिचायक हैं। हल व बैल कृषि के मुख्य साधन थे। हल से जोती जाने वाली भूमि हल्पा कहीं जाती थी। इस काल में खेल को तीन बार जोतकर तैयार किया जाता था, तत्पश्चात बीज वपन की क्रिया सम्पन्न की जाती थी। बीज वपन की प्रक्रिया पुरानी थी अर्थात् बीज या तो छिटका कर बोया जाता था अथवा बीजों को हल के पीछे–पीछे कूड़ में बोया जाता था। इस युग में मिश्रित फसल अर्थात् दो फसलों को एक साथ बो दिया जाता था यथा उड़द और तिल। इस युग में उत्पादन क्षमता बढ़ाने हेतु खाद व पानी की सहायता राज्य से समय–समय पर मिलती थी। इस काल में सिंचाई नहर, कुओं, तालाबों तथ रहट द्वारा की जाती थी। उपज प्राय दो प्रकार की होती थी। जुते हुए खेत में उत्पन्न अन्नत को कृष्ट और बिना जुटी हुई भूमि से उत्पन्न अन्न को अकृष्ट पच्च कहते थे। इस काल की प्रमुख फसलें ब्रीहि, शालि, यव पावानी, गोधूम, अणु, माष, मृदंग (मूंग), तिल, मधूक, गर्भूत (मटर), उपा (अलसी), अलाबू (लौकी), गेवधुका (चना या मटर) मंगा (सन)। कार्पास (कपास) इक्षु (गन्ना), मूलक (मूली), कुस्तुम्बुर (धनिया)। हरिद्रा (हल्दी), द्राक्षा (अंगूर), पिप्पली (पीपर), श्रृंगवेर (अदरक) केसर नलद आदि थीं। कृषि व्यवस्था के साथ–साथ पशुपालन व्यवसाय भी उच्च कोटि का था। गाय व बैल तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण पशु थे। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि एक–एक परिवार के पास सैंकड़ों व सहस्रों गायें रहती थीं। अश्व खच्चर वृश तथा उच्च वर्ग के लोग हाथी भी पालते थे। समाज में बहुत से लोग शिल्प कला से जीवन–यापन करते थे इनमें मुख्य हैं गायक, वादक, पाणिभ, ताडध, कुलाल (कुम्भकार), तक्षा (बढ़ई), रथकर (बढ़ई का ही एक वर्ग), धनुष्कार, उपस्कार (लोहे की वस्तुएँ बनाने वाले), कौर (लुहार और ततेरे) स्वर्णकार, खनक, तन्तुवाय (वस्त्रों के निर्माता), चर्मकासर, राजगीर (मिस्त्री) आदि। इस युग में व्यापार की स्थिति काफी अच्छी थी। व्यापार में क्रय–विक्रय होता था, अतः व्यापारी क्रय–विक्रयिक कहलाते थे। इन वाणिज्यों (व्यापारियों) की श्रेणियाँ भी थी, जो उनके वाणिज्य स्थान या वाणिज्य वस्तु के नाम पर थी। महाभाष्य में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भी उल्लेख है। व्यापार संघों को सस्थान कहते थे और उनके सदस्यों को सांस्थानिक कहते थे। क्रय–विक्रय का मूल्य निर्धारण सिक्कों के आधार पर होता था अथवा वस्तुओं का विनिमय किया जाता था, माश (ताम्रमुद्रा)। कार्षापण (रजत मुद्रा), निष्क (स्वर्ण मुद्रा) से खरीदी वस्तुओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। खेतों के विधिवत बन जाने के बाद बीजों की बुवाई की जाती थी। बीजों की रीतियाँ वही पुरानी थी, अर्थात् हल के पीछे–पीछे कूड़ों में बीजों को बोया जाता था, या बीजों को छिटक कर बोया जाता था। सिंचाई के लिए नदी, सरोवर, कुँए

आदि इस काल के मुख्य साधन थे। नदियों पर बाँध बनाकर भी उनसे जल प्राप्त किया जाता था। यदा–कदा नदियों में जल का वेग बढ़ जाने पर बाँध टूट जाते थे। रुद्रदामन प्रथम के गिरिनार अभिलेख से पता चलता है कि ई.पू. चतुर्थ शताब्दी में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के राष्ट्रीय वैश्य पुष्पगुप्त द्वारा गिरिनार की पहाड़ियों से निकलने वाली सुवर्णसिकता तथा पलाशिनी आदि नदियों के जल प्रवाह को रोकने के लिए विशाल बाँच का निर्माण करवाया गया था। इसी प्रांत में नियुक्त सम्राट अशोक महान् के प्रान्तीय शासक पवनराज तुषास्य ने उसमें नहरें निकलवायी थीं, किंतु महाक्षत्रप रूद्रदामन प्रथम के शासन काल में घोर वर्षा और तूफगान से यह बांध जर्जर हो गया था, जिसका पुननिर्माण प्रचुर धनराशि व्यय करके स्वयं रूद्रदामन ने करवाया था।

कृष्ट तथा अपकृष्ट दो प्रकार के अन्न इस युग में भी थे। कृष्ट अन्नों में चावल का अत्याधिक महत्व था, जिसे (शालि) कहा जाता था। चावल के अतिरिक्त इस युग में सर्षम (सरसों), कुल्माष (कुल्थी), तिल, यव (जी), गोधूम (गेहू), मसूर मुदग (मूंग) माष (उड़द) आदि अनाज भी पैदा होते थे। अनेक प्रकार की

सब्जियाँ (हरित कलापक) भी उगाई जाती थीं। गन्ने को भी लोग बाते थे तथा उनसे गुढ व शक्कर बनाई जाती थी। इस काल में अनेक वन व उपवन भी होते थे यथा– पाटलिपुत्र के पास स्थित अशोका राम, आम्रवन (राजगृह में स्थित जीवक का उपवन), जेतवन (कौशल की राजधानी श्रावस्ती में राजकुमार जेत का प्रसिद्ध उपवन), आम्रपाली–उपवन (वैशाली की एक सुप्रसिद्ध गणिका का उपवन), न्यग्रोधवन (कपिलवस्तु में स्थित वट वृक्षों का वन), हिमालय वन (यह वन हाथियों के लिए प्रसिद्ध था) आदि। वनों के अतिरिक्त किसान छोटे–छोटे बाग–बगीचे भी लगाते थे। पशुपालन में बैल इस युग का मुख्य पशु था, जो खेती के काम आता था तथा हल, गाड़ी व रथ चलाता था। गाय प्रायः हृष्ट–पुष्ट व अधिक दूध देने वाली थी। गाय और बेलों के अतिरिक्त महषि और महिषी, अश्व, खर, ऊँट, मेढ़ (भेड़) आदि भी अनेक पशु थे जो लोग पालते थे। यद्यपि पशु पालन का कार्य कृजन ही करते थे जो लोग पालते थे। यचापि पशु पालन का कार्य कृषकजन ही करते थे पर इस युग में यह कार्य मुख्यतया चोप (वर्ग–विशेषण) के लोग ही करते थे। संस्कृत और बौद्ध ग्रंथों में अट्ठारह व्यवसायिक वर्ग की भनियों का उल्लेख है। जिनमें मुख्य श्रेणियों है– कोलिक (वस्त्रों को बनाने वाले जुलाहे) स्वर्णकार, काँसाकार (काँस के पात्र बनाने वाले) कर्णक (सुहार), वर्धकी (बई), कुम्भकार लेलपिशक (तली), बसकार (बसि का कार्य करने वाले), मालाकार (माली), गाधिक (सुगरि तेल तथा इत्रादि बनाने वाले), धसक (मजुए), सार्थवाह (व्यापार करने वाले), नापित (नाई), रजक (धोबी), लौहकार (अस्त्र–शस्त्र के विमर्माता) इत्यादि। इस युग में व्यापार की स्थिति काफी अच्छी थी।बुद्धचरितम् से ज्ञात होता है कि इस युग की सुप्रसिद्ध नगरी कपिलवस्तु में वनिकों की बड़ी ही विशाल दुकानें थी। जिस समय कपिलवस्तु में तथागत भगवान बुद्ध वणिकों की गली से गुजरे थे, उस समय उनके दर्शन के लिये बड़े–बड़े दुकानदार अपनी–अपनी दुकानों से बाहर निकल आये थे उनमें से कुछ दर्शन व प्रणाम कर शीघ्र ही लौट पये थे। इन दुकानदारों में कुछ सार्थवाह वणिक थे, जो दूर देशों में व्यापार करने के लिऐ जाते थे। उनके रास्ते में बीहड जंगल व रेगिस्तान पड़ते थे, अतएव वणिक सार्थ बनाकर ही प्राय चलते थे जो सार्थवाह कहलाता था। वह काफिलों का ठगों तथा लुटेरों से रक्षा कत्ता और शिविर का भी प्रबंध करता था। अनेक ऐसे तात्कालिक पुरातत्व से सम्बद्ध प्रभाण है, जिनके आधार पर व्यापारियों की दानशीलता व उनकी व्यापारिक वस्तुओं पर प्रकाश पड़ता है। व्यापार में विनिमय प्रणाली ही इस युग में कार्य कर रही थी। किंतु इस युग में निश्चित रूप से सोने–चाँदी व तौबे के सिक्के हो चल रहे थे। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में सोने की ही मुद्राएँ चलती थीं। सोने का सिक्का सुवर्ण, चाँदी के 35 कार्षापण सिक्कों के बराबर होता था। एक कार्षापण का वजन 146.4 रोन था। इसी काल में मालव, योधेय, अर्जनायन जातियों के गणतंत्रों ने भी चाँदी और ताँबे के सिक्के चला रहे थे। इस काल में रोम साम्राज्य के सिक्कें प्राप्त हुए हैं, जो सम्भवतः भारतीय माल के बदले में रोम साम्राज्य की ओर से भारत को प्राप्त हुए थे, ये सिक्कें भारतीय सिक्कों की तौल के बराबर में है। इनकी तौल 124 ग्रेन होती थी। विम कदफिसेस के द्वारा चलाया गया एक चाँदी का सिक्का भी प्राप्त हुआ है, जो ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है। इस युग के व्यापार से संबंधित आर.सी. मजुमदार के विचार ध्यातव्य हैं। उनके अनुसार इस युग में वस्तुओं को निर्यात स्थान से बाहर भेजने का प्रबंध था। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार जलयानों द्वारा होता था। इस काल में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में सुगंधित द्रव्य, इत्र, औषधियों के लिये जड़ी बूटियाँ, रंग, मोती, जवाहरात, हीरे नीलमणि, लोहा, इस्पात, ताँबा, चंदन, पशुओं की खालें, सूती कपड़े, नील, हाथी दाँत तथा शीश आदि मुख्य थीं। इस काल के प्रमुख व्यावसायिक नगर मथुरा, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कौशाम्बी, वाराणसी, नासिक, चुनार, धनकट, करहाटक थे। इनका संबंध एक दूसरे के साथ सड़कों के द्वारा जुड़ा हुआ था। भड़ौच, कल्याण, शूर्माख या सुपारा इस युग के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे, जिनसे भारतवर्ष का विदेशी व्यापार होता था। गुप्तकालीन साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक जीवन कृषि प्रधान था। इस युग में राज्य की ओर से यह प्रयास रहता था कि अधिक से अधिक भूमि कृषि योग्य बनायी जाये। राज्य लोगों को भूमिछिद–धर्म और भीविधर्म के अनुसार भूमि दे रहा था। अग्रहार के रूप में ब्राह्मणों को भी भूमि प्राप्त हो रही थी। इस प्रकार क्रमशः भूमि प्राप्त करने और भू–सम्पत्ति बढ़ाने की प्रवृत्ति लोगों में बढ़ने लगी थी, जिसको फलस्वरूप भूमि संबंधी वाद–विवाद बढ़ गये थे। भूमि क्रय–विक्रय से बढ़ते विवादों को देखते हुए भूमि–वितरण व्यवस्था काफी कठिन कर दी गयी थी। भू–वितरण ग्राम परिषद् की स्वीकृति और माध्यम से होता था। भू–सम्पत्ति का हस्तांतरण ग्राम के सहनिवासियों की सहमति अथवा ग्राम परिषद् की अनुमति से होता था। भू–हस्तांतरण पाम महत्तरों की उपस्थिति में किया जाता था और वह उसका सीमा रेखांकन कर दिया करता था। स्मृतियों में कृषि कर्म वैश्यों का धर्म बताया गया है। कृषि कर्म वैश्यों के साथ ब्राह्मण व क्षत्रिय के अधिकार में भी था। वास्तव में भू–स्वामी स्वयं खेती न करके भूमि उसे जोतने बोने वालों को दे देते थे। इस श्रम के बदले वह उसे 35 से 50 प्रतिशत उत्पादन देता था। अतः इस काल में बेगारी की भी प्रथा प्रचलित थी। कृषि की रक्षा राजा के कर्तव्यों में से एक महत्वपूर्ण कर्तव्य समझा जाता था। राज्य की ओर से सिंचाई व्यवस्था कुएँ (वापी), तालाब (डाग) की समुचित व्यवस्था रहती थी। गुप्तकालीन सिंचाई संबंधी व्यवस्था की और राज्य की सजगता का प्रमाण स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में मिलता है। गुप्तकाल में कृषि उत्पादन संबंधी ज्ञान हमें कालिदास के पंचों से कुछ सीमा तक ज्ञात होता है। इस काल में ईख व धान की पैदावार अत्यधिक थी। धान के रूप में, शलि, नीवार, कलम, श्यामाक का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त जौ व तिल का भी उल्लेख है।

भास के नाटक और उज्जयिनी

चन्द्रशेखर भार्गव

संस्कृत नाटककारों में भास का नाम बड़े सम्मान का विषय रहा है। कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती और लोकप्रिय नाटककारों की चर्चा करते हुए सबसे पहले भास और बाद में सोमिल (सौमिल्ल) एवं कविपुत्र के नाम लिए हैं और उन्हें यशस्वी नाटककार कहा है। बाणभट्ट, वाक्यतिराज और जयदेव ने भी उनकी प्रशंसा की है। वामन की 'काव्यालंकार सूत्रवृति' और अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती', राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' से भास के नाटकों का अस्तित्व सूचित है। 'अवंतिसुंदरी कथा' में भी उनका नाम आया है। अतः निश्चित है कि संभवतः अश्वघोष के परवर्ती और कालिदास से पूर्ववर्ती नाटककार के रूप में भास अत्यंत लोकविश्रुत कलाकार थे। बीसवीं सदी के आरम्भ तक भास के बारे में केवल प्रशस्ति वाक्य सुनने को मिलते थे। भास के नाटकों का स्वरूप लोगों को ज्ञात नहीं था। केवल दक्षिण भारत की कुछ हस्तप्रतियों में ही भास नाटकचक्र सीमित था। यद्यपि पूर्व संस्कृत के आचार्यों तथा कवियों ने भास तथा उनके नाटकों की बहुशः प्रशंसा की थी तथापि उनकी कोई भी कृति उपलब्ध नहीं हुई थी। स्वयं महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् नाटक के आरम्भ में सूत्रधार के मुख से प्रश्न करवाया है कि प्रसिद्ध यश वाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों की कृतियों का अतिक्रमण कर कालिदास की कृति का अत्यधिक आदर क्यों है? इससे स्पष्ट है कि अतिप्राचीन काल से इनके नाटक अपना विशिष्ट स्थान रखते थे तथा मान्य कवियों की दृष्टि में सम्मानित थे। सर्वप्रथम महामहोपाध्याय टी गणपति शास्त्री ही उन्नीसवीं शताब्दी में भास के नाटकों को प्रकाश में लाए।

कालिदास ने भास नामक नाटककार की अभिवंदना की है, उससे यह निश्चित हो जाता है। अन्यत्र प्रस्तुत लेखक ने भास के नाटकों का और उसका समय चार हजार वर्ष के पूर्व का सिद्ध किया है। भास का समय वह समय था जब संस्कृत बोलचाल की भाषा होने से उसमें नाटक खेले जाते थे। भास के अनेक नाटकों में से अब तक तेरह या चौदह नाटक पूर्ण या खण्डित मिले हैं। जो नाटक मिले हैं उनमें से अविमारक, प्रतिज्ञायीगंधरायण, स्वप्नवासवदत्ता, और चारुदत्त उज्जयिनी से सम्बन्धित है। भास के नाटकों में उज्जयिनी का विशद वर्णन मिलता है। महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश एवं मेघदूत में उज्जयिनी के सम्बन्ध में जो उल्लेख किये हैं उनमें महाकाल, ज्ञान–परम्परा, ऊँचे मकान, नागरिकों आदि का वर्णनों है। भास के उपरोक्त चारों नाटकों में इनके वर्णन आये हैं। महाभारत काल से, अर्थात् आज से 5000 वर्षों से भी अधिक पूर्व, उज्जयिनी विद्यापीठ था। श्रीकृष्ण ने मथुरा से आकर यहाँ विद्याध्ययन किया था। अतएव उसके करीब हजार वर्षों के बाद यहाँ भास की योग्यता का लोकप्रिय नाटककार उत्पन्न होना आश्चर्य की बात नहीं है। जब प्रद्योतवंश का उत्कर्ष हुना तब वह एक प्रमुख भारतीय राजधानी बन गई थी। भास के उपरोक्त नाटकों में से अविमारक में दी हुई कथा उसके समय के पूर्व की ज्ञात होती है। उसमें अद्‌भुतता एवं गन्धर्व–मनुष्य सम्बन्ध की प्रमुखता है तथा यह प्रकट होता है कि भारतवर्ष में एकछत्र साम्राज्य की

प्रमुखता नहीं थी और छोटे–छोटे अनेक राज्यों का, कृतिमोज, काशी, सौवीर का अस्तित्व था। इन बातों पर से यह अनुमान करना ठीक होगा कि वह काल ब्रह्मयों का समय होगा अर्थात् महाभारत युद्ध के हजार वर्ष बाद का काल था। भास के नाटक में वर्णित कुंतिभोज देश या राज्य चम्बल नदी के यमुना नदी में गिरने के स्थान के दक्षिण की ओर का प्रदेश था। काशीराज्य वाराणसी क्षेत्र माना जा सकता है, परन्तु यह प्रयाग के आगे भी बढ़कर कृतिभोज राज्य से मिला हुआ था और भास के नाटकों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वह तीनों में प्रबल था। अभी तक कौशाम्बी में चन्द्रवंशीय पाण्डवों का राज्य स्थापित नहीं हुआ था।

सौवीर राज्य का उल्लेख अन्यत्र 'सिन्धु–सौवीर' संयुक्त नाम से आता है। यह भी कुंतिभोज से मिला हुआ था। इसमें निर्दाशत 'सिन्धु' मालवे की क्षिप्रा के साथ साथ बहनेवाली

कालीसिन्ध ही प्रतीत होती है। अतएव वह देश इन दोनों नदियों के बीच का दोआब समझना चाहिए। इसकी राजधानी आगे सुप्रसिद्ध हुई उज्जयिनी ही समझना उपयुक्त होगा। जब इसका नायक अविमारक जो सौवीर का वैरंत्य–युवराज था, कुंतिभोज के राज्य की राजधानी में राजा के प्रासाद में प्रवेश करता है, तब वह महाकाल की वन्दना करता है (तृतीय अंक)। उसमें जो कुंतिभोज की राजधानी का वर्णन किया है वैसा कोई बड़ा नगर इस देश में होना नहीं पाया जाता। इसपर से यह अनुमान होता है कि इसमें जो वैरंत्य नगरी का वर्णन आया है, वह उज्जयिनी का वर्णन हो सकता है क्योंकि यह बात नैसर्गिक है कि जब कवि किसी अप्रत्यक्ष एवं अज्ञात स्थल का वर्णन करता है, तब वह प्रत्यक्ष एवं ज्ञात स्थल का ही वर्णन करता है। जिस समय यह नाटक भास ने लिखा उस समय प्रद्योत चण्डमहासेन के प्रभाव से उज्जयिनी की बहुत कुछ अभिवृद्धि हुई थी, ऐसा शेष तीनों नाटकों पर से स्पष्ट होता है। अविमारक के प्रथमांक में ही राजप्रासाद के सभागृह का निर्देश आया है। वैसे ही एक उद्यान, जिसमें राजघराने की स्त्रियाँ क्रीड़ाएँ करती थीं और जो सार्वजनिक स्वरूप का भी था उसके चारों ओर कोई तट न होने से उसमें हाथी घुस आने का वर्णन है। आगे चलकर द्वितीय अंक में राजप्रासाद का ऐसा वर्णन है कि सूर्य अस्त होते समय उसके किरणों का जो वर्ण रक्त होता है वह राजप्रासाद के उच्च शुभ्र शिखरों पर पड़ने से एक विचित्र शोभा दिखने लगी। इसी पर से उज्जयिनी का सार्वजनिक उद्यान, जिसका उल्लेख चारुदत्त में आया है, और राज–प्रासाद, जिसका उल्लेख रघुवंश में अवन्ति राजा के वर्णन में है, उज्जयिनी में उद्यान–परम्परा होने का प्रमाण मिलता है।

तृतीय अंक में यहाँ के विशाल मकान, उनके चन्द्र जैसा प्रकाश देनेवाले दीपक, जिनकी ओर संकेत रघुवंश में किया गया है– अवन्तिनाथ, महाकाल के निकट रहने के कारण 'असौ महाकाल निकेतनस्य' है, राज में सदैव चन्द्र प्रकाश का आनन्द लेता है। वैसे ही यहाँ के लोगों के सरस जीवन का वर्णन तृतीय अंक, इलोक और अविमारक के स्वगत भाषण में किया है। राजप्रासाद का भव्यदृष्य, वहाँ की भित्तियों पर चित्रों की रचना एवं उसके आसपास के उद्यान का वर्णन, जैसे चारुदत्त में उसके घर के सामने के दीवाल से सटे हुए उद्यान का उल्लेख तृतीय अंक में सज्जलक के भाषण में आया है।

इसी हालत में राजकन्या का स्वेच्छाचार, नैतिक अध ाःपतन एवं राज्य का विनाश बतलाता है। परन्तु इसी वर्णन से उज्जयिनी के वैभव का पता लगता है। इसके बाद प्रद्योत राज्य में, वह अधिक बढ़ा, परन्तु चारुदत्त के समय से उसमें कुछ शिथिलता आई थी, ऐसा शकार के अत्याचारों से प्रतीत होता है। चारुदत्त के प्रासाद की भव्यता उस नाम के नाटक के प्रथमांक से ही दीखने लगती है। वह मगध देश की राजधानी से यहाँ आया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि मगध ा साम्राज्य उस समय प्रमुख नहीं था। चारुदत्त के चतुर्थ अंक का सज्जलक ही मृच्छकटिक में शाविलक, और फिर सेनाधि ापति हुआ। प्रतिज्ञा यौगंबरायण के द्वितीय अंक पर से यह ज्ञात होता है कि राजप्रासाद में अनेक भवन कैसे थे और उसमें जो मणिभूमि थी वह बहुत रुचि से सजाई थी। चतुर्थ अंक में जलक्रीड़ा–स्थल का वर्णन है। अविमारक का उसका उल्लेख ध यान में रखने योग्य है। शायद यह क्षिप्रा पर ही होगा। क्योंकि वहाँ जाने के वास्ते हथिनी बुलाई गई। अविमारक में हाथी के मस्त होने का वर्णन है।

यह उद्यान भी क्षिप्रा किनारे होगा। प्रतिज्ञा यौगंध ारायण के चतुर्थ अंक पर से कन्याभवन, या प्रासाद अविमारक के समान ही अलग था, ऐसा दीखता है। इन सब वर्णनों से राजप्रासाद की विशालता प्रतीत होती है। स्वप्नवासवदला की नायिका मगध राजकुमारी थी। चारुदत्त के संवाहक के समान ही ब्रह्मचारी भी मगध देश में के राज–गृह से आया था। वह वत्स देश के लावाणक गाँव में विद्याभ्यासार्थं रहता था। वही वत्स देश आगे उदयन के हाथों से छीन लिया गया था और मगधराजकुमारी से विवाह होने पर वापस मिला था। इस समय चण्डमहासेन की राजधानी का नाम अवन्ति था, और वासवदत्ता ने अपना नाम आवन्तिका रखा था, ऐसा चतुर्थ अंक में है। उसपर से अनुमान किया जा सकता है कि उदयन वत्सराज होने के बाद भी महासेन का श्रेष्ठत्व मानता था (स्वप्नवासवदत्ता)। इस पर से उज्जयिनी की भासकालीन प्रतिष्ठा भी स्पष्ट होती है।

भास द्वारा प्रणीत नाटकों में यह सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसे प्रतिज्ञायौगन्धरायण का उत्तरार्द्ध अर्थात् परवर्ती भाग कहा जा सकता है। उदयन का अपने विरोधियों को परास्त करने के लिए मगधराज दर्शक की सहायता लेना नितान्त आवश्यक हो जाता है। ऐसे में पद्मावती से उदयन का विवाह करवाने के लिए यौगन्धरायण वासवदत्ता के आग में जल जाने की झूठी खबर फैलाता है और वासवदत्ता को मगधराज दर्शक बहन पद्मावती के पास वेश बदलकर रखवा लेता है। तत्पश्चात् पद्मावती एवं उदयन का विवाह हो जाता है। मगधराज आदि की सहायता से राजा उदयन कौशाम्बी का नष्ट राज्य प्राप्त करने में सफल हो जाता है। स्वप्न में राजा उदयन वासवदत्ता को देखता है। उसे वासवदत्ता के जीवित होने में कुछ विश्वास जगने लगता है। विजयोपरान्त राजा उदयन के सम्मुख वासवदत्ता लाई जाती है और दोनों का पुनः मिलन हो जाता है इसमें भास ने अपनी नाट्यकला का अद्‌भुत चित्रण किया है।

भास के नाटकों में कल्पना और मौलिकता के कारण कवित्व का प्राचुर्य दिखायी देता है। शैली की विशेषता के कारण इनके संवादों में प्रभावात्मकता है। भास ने अपने नाटकों में अलंकारों के प्रयोग को महत्व न देते हुए सरल भाषा के प्रयोग को प्रमुखता दी है। प्रवाह से परिपूर्ण भास की भाषा अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ है इनके संवादों में शैली की स्पष्टता दिखाई देती है। पात्रों के कथोपकथनों में अत्यन्त विदग्धता दिखायी देती है। भास के नाटकों में उक्ति प्रत्युक्तियों का संतुलित, स्वाभाविक एवं रोचक वर्णन हुआ है।

संस्कृति, शिक्षा और प्राचीन तक्षशिला

ईशान अवस्थी

प्राचीन तक्षशिला के खण्डहरों को खोज निकालने का प्रयन्त सबसे पहले जनरल कनिंघम ने शुरू किया था, किन्तु ठोस काम 1912 ई. के बाद ही भारतीय पुरातत्व विभाग की ओर से सर जॉन मार्शल के नेतृत्व में शुरू हुआ और अब उसके कई स्थानों पर छितरे हुए अवशेष खोद निकाले गए हैं। लगता है, भिन्न–भिन्न युगों में नगर विदेशी आक्रमणों के कारण ध्वस्त होकर नई बस्तियों के रूप में इधर–उधर सरकता रहा। उसकी सबसे पहली बस्ती पाकिस्तान के रावलपिंडी जिले में भीर के टीलों से, दूसरी बस्ती रावलपिंडी से बाईस मील उत्तर सिरकप के खण्डहरों से और तीसरी बस्ती उससे भी उत्तर सिरसुख से मिलाई गई है। ये बस्तियाँ क्रमशः पाँचवी और दूसरी शती ईसवी पूर्व के बीच दूसरी और पहली शती ईसवी पूर्व के बीच (यूनीनी बाख्त्री युग) तथा पहली शती ईसा पूर्व और पहली ईसवी शती के मध्य (शक–कुषण युग) की मानी जाती हैं।

भारतीय इतिहास में तक्षशिला नगरी विद्या और शिक्षा के महान केंन्द्र के रूप में प्रसिद्ध थी। ऐसा लगता है कि वैदिक काल की कुछ अन्तिम शताब्दियों के पूर्व उसकी ख्याति बहुत नहीं हो पाई थी। किन्तु बौद्धयुग में तो वह विद्या का सर्वमुख्य क्षेत्र थी। यद्यपि बौद्ध साहित्य के प्राचीन सूत्रों में उसकी चर्चा नहीं मिलती तथापि जातकों में उसके वर्णन भरे पड़े हैं। त्रिपिटक की टीकाओं और अठ्ठकथाओं से भी उसकी अनेक बातें ज्ञात होती हैं। तद्नुसार बनारस, राजगृह, मिथिला और उज्जयिनी जैसे भारतवर्ष के दूर–दूर क्षेत्रों से विद्यार्थी वहाँ पढ़ने के लिये जाते और विश्व प्रसिद्ध गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करते थे। तिलमुष्टि जातक से जाना जाता है कि वहाँ का अनुशासन अत्यन्त कठोर था और राजाओं के लड़के भी यदि बार–बार दोष करते तो पीटे जा सकते थे। वाराणसी के अनेक राजाओं के अपने पुत्रों, अन्य राजकुमारों और उत्तराधिकारियों को वहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजने की बात जातकों से ज्ञात होती है। स्पष्ट है कि तक्षशिला राजनीति और शस्त्रविद्या की शिक्षा का अन्यतम केन्द्र थी। वहाँ के एक शस्त्रविद्यालय में विभिन्न राज्यों के 103 राजकुमार पढ़ते थे। आयुर्वेद और विधिशास्त्र के वहाँ विशेष विद्यालय थे। तक्षशिला के स्नातकों में भारतीय इतिहास के कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध पुरुषों के नाम मिलते हैं। संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण पाणिनि गांधार स्थित शालातुर के निवासी थे और असंभव नहीं, उन्होंने तक्षशिला में ही शिक्षा पाई हो। गौतम बुद्ध के समकालीन कुछ प्रसिद्ध व्यक्ति भी वहीं के विद्यार्थी रह चुके थे जिनमें मुख्य थे तीन सहपाठी कोसलराज प्रसेनजित्, मल्ल सरदार बन्धुल एवं लिच्छवि महालिय प्रमुख वैद्य और शल्यक जीवक तथा ब्राह्मण लुटेरा अंगुलिमाल। वहाँ से प्राप्त आयुर्वेद सम्बन्धी जीवक के अपार ज्ञान और कौशल का विवरण विनयपिटक से मिलता है। चाणक्य वहीं के स्नातक और अध्यापक थे और उनके शिष्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ चन्द्रगुप्त मौर्य, जिसने अपने गुरु के साथ मिलकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। तक्षशिला में प्राय–उच्चस्तरीय विद्याएँ ही पढ़ाई जाती थीं और दूर–दूर से आने वाले बालक निश्चय ही किशोरावस्था के होते थे जो प्रारंभिक शिक्षा पहले ही प्राप्त कर चुके होते थे। वहाँ के पाठयक्रम में आयुर्वेद, धनुर्वेद, हस्तिविद्या, त्रयी, व्याकरण, दर्शनशास्त्र, गणित, ज्योतिष, गणना, संख्यानक, वाणिज्य, सर्पविद्या, तन्त्रशास्त्र, संगीत, नृत्य और चित्रकला आदि का मुख्य स्थान था। जातकों में उल्लिखित वहाँ पढ़ाए जानेवाले तीन वेदों और 18 विद्याओं में उपयुक्त अवश्य होंगें। किन्तु कर्मकाण्ड की शिक्षा के लिये तक्षशिला नहीं, अपितु वाराणसी ही अधिक प्रसिद्ध थी। तक्षशिला की सबसे बड़ी विशेषता थी, वहाँ पढ़ाए जानेवाले शास्त्रों में लौकिक शस्त्रों का प्राधान्य था। कुछ विद्वानों का मत है कि तक्षशिला में कोई आधुनिक महाविद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों जैसी एक संगठित एवं समवेत संस्था नहीं थी, अपितु वह विद्या का ऐसा केन्द्र था जहाँ अलग–अलग छोटे–छोटे गुरुकुल होते और व्यक्तिगत रूप से विभिन्न विषयों के आचार्य आगंतुक विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। किन्तु इस बात का ध्यान रखते हुए कि उस समय के गुरुकुलों पर गुरुओं के अतिरिक्त अन्य किसी अधिकारी अथवा केन्द्रीय संस्था का कोई नियन्त्रण नहीं होता था, यह असंभव नहीं जान पड़ता कि तक्षशिला के सभी गुरुकुलों के छात्रों की सारी संख्या और उन अलग–अलग गुरुकुलों का समवेत स्वरूप आधुनिक विश्वविद्यालयों से विशेष भिन्न न रहा हो। कभी–कभी तो एक–एक गुरुकुल में पाँच–पाँच सौ विद्यार्थी होते थे और उनमें विभिन्न विषय अवश्य पढ़ाए जाते होगें। उनको महाविद्यालयों की संज्ञा देना अनुचित न होगा। यों तो गान्धार की चर्चा ऋग्वेद से ही मिलती है। किन्तु तक्षशिला की जानकारी सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण से होती है। अयोध्या के राजा रामचन्द्र की विजयों के उल्लेख के सिलसिले में हमें यह ज्ञात होता है कि उनके छोटे भाई भरत ने अपने नाना केकयराज अश्वपति के आमन्त्रण और उनकी सहायता से गन्धर्वों के देश (गान्धार) को जीता और अपने दो पुत्रों को वहाँ का शासक नियुक्त किया। गन्धर्व देश सिंधु नदी के दोनों किनारे, स्थित था और उसके दानों ओर भरत के तक्ष और पुष्कल नामक दोनों पुत्रों ने तक्षशिला और पुष्करावती नामक अपनी–अपनी राजधानियाँ बसाई। तक्षशिला सिन्धु के पूर्वी तट पर थी। उन रघुवंशी क्षत्रियों के वंशजों ने तक्षशिला पर कितने दिनों तक शासन किया, यह बता सकना कठिन है। महाभारत युद्ध के बाद परीक्षित के वंशजों ने कुछ पीढ़ियों तक वहाँ अधिकार बनाए रखा और जनमेजय ने अपना नागयज्ञ वहीं किया था।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

सोमदेव की सर्वकालिक कृति कथासरित्सागर

कथासरित्सागर संसार भर के कथा–साहित्य का आदिस्त्रोत है। शेक्सपियर, गेटे बोकेशियो सहित न जाने कितने सुख्यात विदेशी कथाकारों ने इसी की कथा–कहानियों से अपनी कृतियों की मूल प्रेरणा ग्रहण की है। यह संस्कृत कथा साहित्य का शिरोमणि ग्रंथ है, जिसकी रचना कश्मीरी पंडित सोमदेव ने त्रिगर्त अथवा कुल्लू कांगड़ा के राजा की पुत्री, कश्मीर के राजा अनन्त की रानी सूर्यमती के मनोविनोदार्थ संस्कृत में की थी। 'कथासरित्सागर' को गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' भी कहा जाता है। यह सबसे पहले प्राकृत भाषा में लिखा गया था। 'वृहत्कथा' संस्कृत साहित्य की परंपरा को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला ग्रन्थ है। गुणाढ्य को वाल्मीकि और व्यास के समान ही आदरणीय भी माना है। इसकी कथावस्तु सभी तरह की कथा–कहानियों का एक सागर है, जिसमें छोटी–छोटी कथाओं की न जाने कितनी सरिताएँ और धाराएँ मिलती जाती हैं। इसमें लोककथाएँ हैं, ऐतिहासिक गाथाएँ हैं, पौराणिक वार्ताएँ है, शिक्षा की कहानियाँ हैं, नीति की, बुद्धिमानी की, मूर्खता की, प्रेम की, विरह की, स्त्री–चरित्र की, गृहस्थ जीवन की, भाग्य–चक्र की, संक्षेप में जीवन के हर पहलू से संबंध रखनेवाली कहानियाँ हैं। कथासरित्सागर विश्वकथा साहित्य को भारत की अनूठी देन है। 'बृहत्कथा' भारतीय कथा परंपरा का महाकोश है। मिथक और इतिहास, यथार्थ और फंतासी, व सच्चाई का अनूठा संगम इसमें हुआ है।

कथासरित्सागर की कहानियों में अनेक अद्भुत नारी चरित्र भी हैं और इतिहास प्रसिद्ध नायकों की कथाएँ भी हैं। भारतीय समाज जितनी विविधता और बहुरंगी छटा में यहाँ प्रस्तुत है, उतना अन्य किसी प्राचीन कथा ग्रंथ में नहीं मिलता। कथासरित्सागर कथाओं की ऐसी मंजूषा प्रस्तुत करता है, जिसमें एक बड़ी मंजूषा के भीतर दूसरी, दूसरी को खोलने पर तीसरी निकल आती है। मूल कथा में अनेक कथाओं को समेट लेने की यह पद्धति रोचक भी है और जटिल भी है। कथासरित्सागर में 21,388 पद्य हैं और इसे 124 तरंगों में बाँटा गया है। इसका एक दूसरा संस्करण भी प्राप्त है, जिसमें 18 लंबक हैं। लंबक का मूल संस्कृत रूप लंभक था। विवाह द्वारा स्त्री की प्राप्ति 'लंभ' कहलाती थी और उसी की कथा के लिए लंभक शब्द प्रयुक्त होता था। इसीलिए 'रत्नप्रभा', 'लंबक', 'मदनमंचुका लंबक', 'सूर्यप्रभा लंबक' आदि अलग–अलग कथाओं के आधार पर विभिन्न शीर्षक दिए गए होंगे। कथासरित्सागर गुणाढ्य कृत 'बड़ कथा' (बृहत्कथा) पर आधारित है, जो पैशाची भाषा में थी। सोमदेव ने स्वयं कथासरित्सागर के आरंभ में कहा है–मैं बृहत्कथा

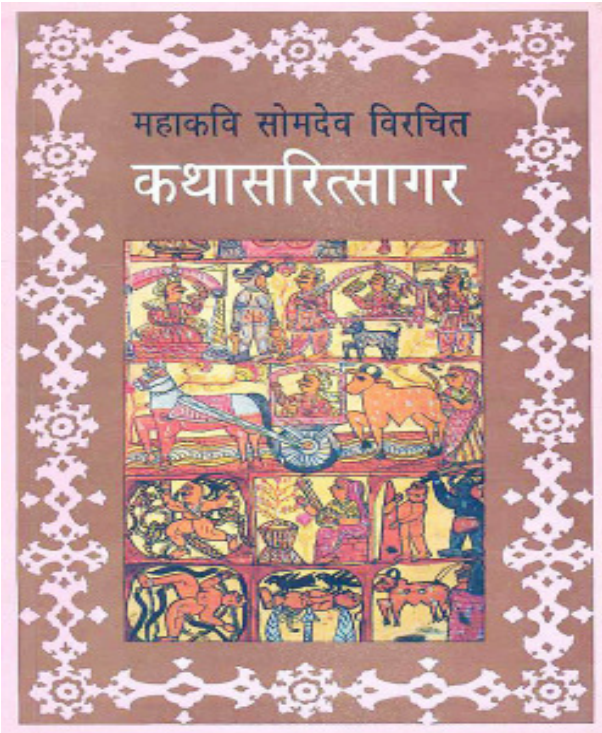

के सार का संग्रह कर रहा हूँ। बड़ कथा की रचना गुणाढ्य ने सातवाहन राजाओं के शासनकाल में की थी, जिनका समय ईसा की प्रथम द्वितीय शती के लगभग माना जाता है। आंध्र–सातवाहन युग में भारतीय व्यापार उन्नति के चरम शिखर पर था। स्थल तथा जल मार्गों पर अनेक सार्थवाह नौकाएँ और पोत समूह दिन रात चलते थे। अतः व्यापारियों और उनके सहकर्मियों के मनोरंजनार्थ, देश–देशांतर भ्रमण में प्राप्त अनुभवों के आधार पर अनेक कथाओं की रचना स्वाभाविक थी। गुणाढ्य ने सार्थों, नाविकों और सांयात्रिक व्यापारियों में प्रचलित विविध कथाओं को अपनी विलक्षण प्रतिभा से गुंफित कर, बड़ कथा के रूप में प्रस्तुत कर दिया था। मूल बड़ कथा अब प्राप्य नहीं है, परंतु इसके जो दो रूपांतर बने, उनमें चार अब तक प्राप्त हैं। इनमें सबसे पुराना बुधस्वामी कृत 'बृहत्कथा श्लोक संग्रह' है। कथासरित्सागर में पहला लंबक कथापीठ है। गुणाढ्य संबंधी कथानक उसका विषय है, जिसमें पार्वती के श्राप से शिव का गण पुष्पदंत वररुचि कात्यायन के रूप में जन्म लेता है और उसका भाई माल्यवान गुणाढ्य के नाम से उत्पन्न होता है। वररुचि विंध्य पर्वतमाला में काणभूति नामक पिशाच को शंकर द्वारा पार्वती को सुनाई गई सात कथाएँ सुनाता है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com